गायत्री के जगमगाते हीरे

श्रीराम शर्मा आचार्य

गायत्री के जगमगाते हीरे

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ **मूल्य : ६.०० रुपये**

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा-२८१००३

लेखक :
श्रीराम शर्मा आचार्य

पुनरावृत्ति सन् **२०११**

मुद्रक :
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि, मथुरा

गायत्री के जगमगाते हीरे

ॐ—ईश्वरीय सत्ता का तत्त्व-ज्ञान

ओमित्येव सुनामधेयमनघं विश्वात्मनो ब्रह्मणः,
सर्वेष्वेव हि तस्य नामसु वसोरेतत्प्रधानं मतम्।
यं वेदा निगदन्ति न्यायनिरतं श्रीसच्चिदानन्दकम्,
लोकेशं समदर्शिनं नियमिनं चाकारहीनं प्रभुम्॥

अर्थ—जिसको वेद न्यायकारी, सच्चिदानंद, संसार का स्वामी, समदर्शी, नियामक और निराकार कहते हैं,जो विश्व की आत्मा है, उस ब्रह्म के समस्त नामों से श्रेष्ठ नाम, ध्यान करने योग्य 'ॐ' यह मुख्य नाम माना गया है।

गायत्री-मंत्र के प्रारंभ में 'ॐ' लगाया जाता है। 'ॐ' परमात्मा का प्रधान नाम है। ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा जाता है। **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** उस एक ही परमात्मा को ब्रह्मवेत्ता अनेक प्रकार से कहते हैं। विभिन्न भाषाओं और संप्रदायों में उसके अनेक नाम हैं। एक-एक भाषा में ईश्वर के पर्यायवाची अनेक नाम हैं फिर भी वह एक ही है। इन नामों में ॐ को प्रधान इसलिए माना है कि प्रकृति की संचालक सूक्ष्म गतिविधियों को अपने योग-बल से देखने वाले ऋषियों ने समाधि लगाकर देखा है कि प्रकृति के अंतराल में प्रतिक्षण एक ध्वनि उत्पन्न होती है जो 'ॐ' शब्द से मिलती-जुलती है। सूक्ष्म प्रकृति इस ईश्वरीय नाम का प्रतिक्षण जप और उद्घोष करती है इसलिए अकृत्रिम, दैवी,स्वयं घोषित, ईश्वरीय नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

आस्तिकता का अर्थ है—सतोगुणी, दैवी, ईश्वरीय, पारमार्थिक भावनाओं को हृदयंगम करना। नास्तिकता का अर्थ है—तामसी, आसुरी, शैतानी, भोगवादी, स्वार्थपूर्ण वासनाओं में लिप्त रहना। यों तो ईश्वर भले-बुरे दोनों तत्त्वों में है पर जिस ईश्वर की हम पूजा करते हैं, भजते

हैं, ध्यान करते हैं, वह ईश्वर सतोगुण का प्रतीक है। ईश्वर की प्रतिष्ठा, पूजा, उपासना, प्रशंसा, उत्सव, समारोह, कथा, यात्रा, लीला आदि का तात्पर्य है सतोगुण के प्रति अपना अनुराग प्रकट करना, उसको हृदयंगम करना, उसमें तन्मय होना। इस प्रक्रिया से हमारी मनोभूमि पवित्र होती है और हमारे विचार तथा कार्य ऐसे हो जाते हैं जो हमारे व्यक्तिगत तथा सामूहिक जीवन में स्थायी सुख-शांति की सृष्टि करते हैं। ईश्वर उपासना का महाप्रसाद साधक की अंतरात्मा में सतोगुण की वृद्धि के रूप में, तत्क्षण मिलना आरंभ हो जाता है।

गायत्री गीता के उपर्युक्त प्रथम श्लोक में ईश्वर की अन्य अनेक विशेषताएँ बताई गई हैं। वह न्यायकारी, समदर्शी, नियामक तथा निराकार है। विश्व की आत्मा है। विश्व के समस्त प्राणियों में आत्मा रूप से वह निवास करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का अंत:करण चतुष्टय विकृत हो जाने से अज्ञान और माया का, स्वार्थ और भोग का मैल बढ़ जाने से अनेकों मनुष्य कुविचारों और कुकर्मों में ग्रस्त देखे जाते हैं, फिर भी उनका अंतरात्मा ईश्वर का अंश होने के कारण भीतर से उन्हें सन्मार्ग पर चलने का आदेश देता रहता है। यदि उस अंतरात्मा की पुकार को सुना जाए, उसके संकेतों पर चला जाए तो बुरे से बुरा मनुष्य भी थोड़े समय में श्रेष्ठतम महात्मा बन सकता है। गीता में भगवान ने कहा है—"सब छोड़कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा।" अंतरात्मा की, परमात्मा की शरण में जाने से, आत्मसमर्पण करने से, दैवी प्रेरणाओं को हृदयंगम करने से मनुष्य ईश्वर का सच्चा भक्त बनता है। भक्त तो भगवान का प्रत्यक्ष रूप है।

गायत्री का प्रथम अक्षर ॐ हमें इन्हीं सब बातों की शिक्षा देता है। यह ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम है, इसके उच्चारण से सूक्ष्म प्रकृति की आत्मचेतना के साथ संबंधित होने की साधना अपने आप होती चलती है। यह ईश्वर का स्वयंघोषित सबसे छोटा नाम है। साथ ही गायत्री गीता ने बताया है कि वह ईश्वर न्यायकारी, प्रभु, समदर्शी,

अविनाशी, चैतन्य, आनंदस्वरूप, नियम रूप, निराकार एवं विश्व-आत्मा है। इन नामों में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व-ज्ञान छिपा हुआ है उसे जानकर उसको आचरण रूप से लाकर हमें ॐ की उपासना करनी चाहिए।

'ॐ' में तीन अक्षर मिले हुए हैं अ, उ, म्। अ, का अर्थ है आत्म-परायणता, शरीर के विषयों से मन हटाकर आत्मानंद में रमण करना। उ, का अर्थ है—उन्नति, अपने को शारीरिक, मानसिक, आर्थिक एवं आत्मिक संपत्तियों से संपन्न करना। म, का अर्थ है—महानता; क्षुद्रता, संकीर्णता, स्वार्थपरता, इंद्रिय लोलुपता को छोड़कर प्रेम, दया, उदारता, सेवा, त्याग, संयम एवं आदर्श के आधार पर जीवन-यापन की व्यवस्था बनाना। इन तीनों अक्षरों में जो शिक्षा है उसे अपनाकर व्यावहारिक रूप से 'ॐ' की, ईश्वर की उपासना करनी चाहिए।

❐

भूः—सर्वत्र अपना ही प्राण बिखरा पड़ा है

भूर्वै प्राण इति ब्रुवन्ति मुनयो वेदान्तपारङ्गताः,
प्राणः सर्वविचेतनेषु प्रसृतः सामान्यरूपेण च।
एतेनैव विसिद्ध्यते हि सकलं नूनं समानं जगत्,
दृष्टव्यः सकलेषु जन्तुषु जनैर्नित्यंह्यसुश्चात्मवम्॥

अर्थ—मनन करने वाले मुनि लोग प्राण को भूः कहते हैं, यह प्राण सब में समष्टि रूप से फैला हुआ है। इससे सिद्ध है कि सभी प्राणी समान हैं। अतएव सब मनुष्यों और प्राणियों को अपने समान ही समझना चाहिए।

हम शरीर हैं—इस भावना से भावित होकर लोग वही कार्य करते हैं जो शरीर को सुख देने वाले हैं। आत्मा के आनंद की प्रायः सर्वदा उपेक्षा की जाती रहती है। यही माया, अविद्या, भ्रांति, बंधन में बाँधने वाली है। मैं वस्तुतः कौन हूँ? मेरा स्वार्थ, सुख और आनंद किन बातों में निर्भर है? मेरे जीवन का उद्देश्य एवं लक्ष्य क्या है? इन प्रधान प्रश्नों की लोग उपेक्षा करते हैं और निरर्थक बाल-क्रीड़ाओं में उलझे रहकर मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को यों ही गँवा देते हैं।

गायत्री के 'भूः' शब्द में बताया गया है कि हम शरीर नहीं प्राण हैं—आत्मा हैं। जब प्राण निकल जाता है तो शरीर इतना अस्पृश्य एवं विषाक्त हो जाता है कि उसे जल्द से जल्द जलाने, गाड़ने या किसी अन्य प्रकार से नष्ट करने की आवश्यकता अनुभव होती है। आत्मा के संसर्ग से ही यह हाड़, मांस, मल-मूत्र आदि घृणित वस्तुओं से बना हुआ शरीर सुख, यश, वैभव, प्रतिष्ठा का माध्यम रहता है जब वह संयोग बिछुड़ जाता है तो लाश, पशुओं के मृत शरीर के समान भी उपयोगी नहीं रहती।

हम प्राण हैं—आत्मा हैं। ज्ञान संचय करने से पूर्व हमें अपने आपको जानना चाहिए। सुख-सामग्री इकट्ठा करने का प्रयत्न करने से पूर्व यह देखना चाहिए कि आत्मा को सुख-शांति किन वस्तुओं से मिल

सकती है। समृद्धि, यश, प्रतिष्ठा, पद आदि संचित करने से पूर्व यह सोचना चाहिए कि आत्म-गौरव, आत्म-सम्मान, आत्मोन्नति का केंद्र कहाँ है? शरीर को प्रधानता देना और आत्मा की उपेक्षा करना यह भौतिकवाद है। आत्मा को प्रधानता देना और शरीर की उचित रक्षा करना यह आत्मवाद है। गायत्री कहती हैं कि हम आत्मा हैं इसलिए हमारा सर्वोपरि स्वार्थ आत्म-परायणता में है, हमें आत्मवादी बनना चाहिए और आत्म-कल्याण, आत्म-चिंतन, आत्मोन्नति एवं आत्म-गौरव की सबसे अधिक चिंता करनी चाहिए।

आत्म-कल्याण का मुख्य लक्षण सबमें अपनेपन का दर्शन करना है। विश्वव्यापी प्राण एक है, प्राणिमात्र में एक ही आत्मा निवास कर रही है, एक ही नाव में सब सवार हैं, एक ही नदी की सब तरंगें हैं,एक ही सूर्य के सब प्रतिबिंब हैं,एक ही जलाशय के सब बुलबुले हैं, एक ही माला के सब दाने हैं, सबमें एक ही प्रकाश जगमगा रहा है। संपूर्ण समाज शरीर है, हम सब उसके अंग मात्र हैं। आत्मा एक मनुष्य की होती है, संपूर्ण प्राणियों की विश्वव्यापी परम विस्तृत जो आत्मा है उसे परमात्मा या विश्वात्मा कहते हैं। नर-नारायण, जनता-जनार्दन, विराट-स्वरूप विश्वनाथ, सर्वेश्वर, सर्वांतर्यामी आदि शब्दों में यही भाव भरा हुआ है कि एक ही चैतन्य तत्त्व प्राणिमात्र में समाया हुआ है। इसलिए सब आपस में संबंधित हैं, सब आपस में पूर्ण आत्मीय हैं, पूर्णतया एक हैं।

गायत्री की शिक्षा है कि अपनी आत्मा को सबमें और सबकी आत्मा को अपने में समाई हुई देखो। अपना वही लाभ स्वीकार करो जो समाज के लाभ का एक भाग है। अपने जिस कार्य से औरों की हानि होती है, बहुसंख्यक नागरिकों पर जिसका बुरा प्रभाव पड़ता है ऐसा लाभ सर्वथा त्याज्य है।

गायत्री का 'भूः' शब्द बार-बार हमारे लिए आदेश करता है कि हम शरीर नहीं आत्मा हैं। इसलिए आत्मकल्याण के लिए, आत्मोन्नति के लिए, आत्मगौरव के लिए प्रयत्नशील रहें और समाज-सेवा द्वारा विराट पुरुष, विश्व-मानव, परमात्मा की पूजा करें।

❐

भुवः—कर्मयोग की शिक्षा

भुवर्नाशो लोके सकलविपदां वै निगदितः,
कृतं कार्यं कर्त्तव्यमिति मनसा चास्य करणम्।
फलाशां मर्त्यो ये विदधति न वै कर्मनिरताः,
लभन्ते नित्यं ते जगति हि प्रसादं सुमनसाम्॥

अर्थ—संसार में समस्त दुःखों का नाश ही भुवः कहलाता है। कर्त्तव्य-भावना से किया गया कार्य ही कर्म कहलाता है। परिणाम के सुख की अभिलाषा को छोड़कर जो कर्म करते हैं वह मनुष्य सदा प्रसन्न रहते हैं।

गायत्री का भुवः शब्द हमें कर्मयोग का संदेश देता है, क्योंकि इसी आधार पर समस्त प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। मनुष्य नाना प्रकार की आशाएँ, तृष्णाएँ, लालसाएँ, कामनाएँ किया करता है। वे इतनी अनियंत्रित और अवास्तविक होती हैं कि उनकी पूर्ति लगभग असंभव रहती है। एक इच्छा की पूर्ति हो भी जाए तो वह तुरंत ही अपना रूप बढ़ाकर और बड़ी हो जाती है। इस प्रकार वह मनुष्य सदा अभावग्रस्त 'दीन' एवं इच्छुक ही बना रहता है। तृप्ति का आनंद उससे दूर ही रहता है।

वस्तुओं और परिस्थितियों में सुख ढूँढ़ना एक प्रकार की मानसिक मृग-तृष्णा है। शरद ऋतु में जब भूमि के क्षार फूलकर ऊपर आ जाते हैं तो प्यासा मृग उन्हें दूर से पानी समझता है, पर पास जाने से उसे अपने भ्रम का पता चलता है और अभीष्ट वस्तु न पाकर दुखी तथा निराश होता है। फिर उसे दूसरी जगह ऐसा ही भ्रम जल दिखाई पड़ता है। वहाँ भी दौड़ता और निराश होता है। इसी उलझन में पड़ा हुआ वह भारी कष्ट सहता रहता है। यही दशा तृष्णाग्रस्त फल लोभी मनुष्यों की होती है। यद्यपि उन्हें भगवान बहुत कुछ देता है, पर उस प्रभु प्रसाद को प्राप्त करने के सौभाग्य से प्रसन्न होने का अवकाश ही नहीं मिलता, उधर ध्यान ही नहीं जाता ताकि संतोष अनुभव कर सकें।

आगे बढ़ना, उन्नति करना, अधिक उत्तम स्थिति प्राप्त करना, ऊपर उठना, विकसित होना जीव का स्वाभाविक धर्म है। इस धर्म-कर्त्तव्य को पालन किए बिना कोई प्राणी चैन से नहीं बैठता, जो इस दिशा में प्रयत्न नहीं कर रहा है उसकी आत्मा हर घड़ी चोंटती रहेगी और वह मंद आत्म-हत्या का कष्ट सदा ही भोगता रहेगा। इसलिए लोभ और तृष्णा से प्रेरित होकर नहीं, आत्म-धर्म का पालन करने के लिए हमें अपनी शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक एवं आत्मिक उन्नति करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। कर्त्तव्य के लिए पूरी शक्ति पूरी दिलचस्पी और सावधानी से तत्परतापूर्वक लगे रहना ही कर्मयोगी के आनंद का केंद्र, उसकी क्रिया प्रणाली होती है। वह अपने सत्प्रयत्नों में हर घड़ी आत्म-सम्मान और आत्म-संतोष का रसास्वादन करता है।

कर्मयोगी अनुद्विग्न रहता है। वह जरा-जरा से हानि-लाभ में मानसिक संतुलन को नष्ट नहीं होने देता। हर्ष-शोक उसके लिए समान हैं, हानि-लाभ में, सफलता-असफलता में उसे मानसिक विक्षोभ नहीं होता,क्योंकि उसका केंद्र बिंदु कर्म है। यदि अपना कर्त्तव्य पालन किया जा रहा है तो असफलता में दुखी या सफलता में हर्षोन्मत्त होने का कोई कारण नहीं। फल देने वाली शक्ति दूसरी है, हम तो अपना कर्त्तव्य पूरा करें यह भावना स्थिति प्रज्ञ की है,अनासक्त योगी की है। जो इस दृष्टिकोण से सोचता है वह सदा प्रसन्न ही रहता है। दुःख या कष्ट में भी उसे अप्रसन्नता का कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता।

गायत्री का 'भुवः' शब्द हमें कर्मयोगी बनाता है। इस आदेश को शिरोधार्य करने वाला कर्म-बंधन में नहीं फँसता, इसलिए जीवन मुक्ति सदा उसके करतलगत रहती है।

❐

स्वः—स्थिरता और स्वस्थता का संदेश

स्वरेषो वै शब्दो निगदति मनःस्थैर्य-करणम्,
तथा सौख्यं स्वास्थ्यं ह्युपदिशति चित्तस्य चलतः।
निमग्नत्वं सत्यव्रतसरसि चाचक्षति उत्,
त्रिधां शांतिंह्येतांभुवि च लभते संयमरतः॥

अर्थ—'स्वः' यह शब्द मन की स्थिरता का निर्देश करता है। चंचल मन को स्थिर और स्वस्थ रखो, यह उपदेश देता है। सत्य में निमग्न रहो, यह कहता है। इस उपाय से संयमी पुरुष तीनों प्रकार की शांति प्राप्त करते हैं।

जीवन में आएदिन दुरंगी घटनाएँ घटित होती रहती हैं। आज लाभ है तो कल नुकसान, आज बलिष्ठता है तो कल बीमारी, आज सफलता है तो कल असफलता। दिन-रात का चक्र जैसे निरंतर घूमता है वैसे ही सुख-दुःख का, संपत्ति-विपत्ति का, उन्नति-अवनति का पहिया भी घूमता रहता है। यह हो नहीं सकता कि सदा एक-सी स्थिति ही रहे। जो बना है वह बिगड़ेगा, जो बिगड़ा है वह बनेगा। श्वासों के आवागमन का नाम ही जीवन है। साँस चलना बंद हो जाएँ तो जीवन भी समाप्त हो जाएगा। सदा एक सी स्थिति बनी रहे, परिवर्तन बंद हो जाए तो संसार का खेल ही खतम हो जाएगा। एक के लाभ में दूसरे की हानि है और एक की हानि में दूसरे का लाभ। एक शरीर की मृत्यु ही दूसरे शरीर का जन्म है। यह मीठे और नमकीन, हानि और लाभ के दोनों ही स्वाद भगवान ने मनुष्य के लिए इसलिए बनाये हैं कि वह दोनों के अंतर और महत्त्व को समझ सके।

गायत्री के 'स्वः' शब्द में मानव प्राणी को शिक्षा दी गई है। मन को अपने में, अपने अंदर स्थिर रखो। अपने भीतर दृढ़ रहो। घटनाओं और परिस्थितियों को जल-तरंगें समझो, उनमें क्रीड़ा-कल्लोल का आनंद लो। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों का रसास्वादन करो, किंतु उनके कारण अपने को उद्विग्न, अस्थिर, असंतुलित मत होने दो, जैसे सरदी-गरमी की परस्पर विरोधी ऋतुओं को हम प्रसनतापूर्वक सहन करते हैं। उन ऋतुओं के दुष्प्रभाव से बचने के लिए वस्त्र, पंखा, अँगीठी, शर्बत, चाय आदि की प्रतिरोधात्मक व्यवस्था कर लेते हैं वैसे ही सुख-दुःख के अवसरों पर भी उनकी उत्तेजना का शमन करने योग्य विवेकं तथा कार्यक्रम की हमें व्यवस्था कर लेनी चाहिए। कमल सदा पानी में रहता है, पर उसके पत्ते जल से ऊपर ही रहते हैं, उसमें डूबते नहीं। इसी प्रकार साक्षी-द्रष्टा, निर्लिप्त, अनासक्त एवं कर्मयोगी की विचारधारा अपनाकर हर परिस्थिति को,हर चढ़ाव-उतार को देखें और उसमें कड़ुवे-मीठे रसों का हँसते-हँसते रसास्वादन करें।

गायत्री का 'स्वः' शब्द बताता है कि इन हर्ष-शोक की बाल-क्रीड़ाओं में न उलझे रहकर हमें आत्मपरायण होना चाहिए। 'स्व' को पहचानना चाहिए। आत्मचिंतन, आत्मविश्वास, आत्मगौरव, आत्मनिष्ठा, आत्मसाधन, आत्मोन्नति, आत्मनिर्माण—यह वह कार्य है, जिनमें हमें इच्छा-शक्ति, कल्पना-शक्ति एवं क्रिया-शक्ति का उपयोग करना चाहिए क्योंकि अंदर का मूल्य केंद्र, उद्‌गम स्रोत, आत्मा ही है।

आत्मस्थित मनुष्य का अन्तस्थल स्वस्थ होने से वह सदा प्रसन्न रहता है। उसके चेहरे पर प्रसन्नता नाचती रहती है। चेहरा सदा मुसकराता हुआ, हँसता हुआ, खिलखिलाता हुआ दिखाई देता है। उसकी वाणी से मधु टपकता रहता है और बोलने में फूल झड़ते हैं।

स्नेह, आत्मीयता, नम्रता, सौजन्य एवं हित कामना का सम्मिश्रण होते रहने से उसकी वाणी ही सरल एवं हृदय-ग्राही हो जाती है।

स्वस्थ आत्मा में स्थित व्यक्ति में बालकों की तरह सरल छलहीन ममता, आत्मीयता, दया एवं सहानुभूति होती है। वह किसी से नहीं कुढ़ता, न किसी का बुरा चाहता है। ईश्वर पर विश्वास होने से वह भविष्य के बारे में आशावादी और निर्भय रहता है। फलस्वरूप अप्रसन्नता उसके पास नहीं फटकती और आनंद एवं उल्लास से उसका अंत:करण भरा रहता है। यह आनंदमयी स्थिति उसकी मुखाकृति एवं वाणी से हर घड़ी छलकती रहती है। गायत्री का 'स्व:' शब्द हमें ऐसी ही स्वस्थता की ओर ले जाता है।

❐

तत्—मृत्यु से मत डरिए

ततो वै निष्पत्तिः स भुविमतिमान् पण्डितवरः,
विजानन् गुह्यं यो मरणजीवनयोस्तदखिलम्।
अनन्ते संसारे विचरति भयासक्ति रहितः,
तथा निर्माणं वै निजगतिविधीनां प्रकुरुते॥

गायत्री गीता के उपर्युक्त श्लोक में गायत्री मंत्र के प्रथम पद 'तत्' की विवेचना करते हुए बताया है—"इस संसार में वही बुद्धिमान है जो जीवन और मरण के रहस्य को जानता है। भय एवं आसक्ति रहित होकर जीता है और उसी आधार पर अपनी गति-विधियों का निर्माण करता है।"

देखा जाता कि लोग जीवन से बहुत अधिक प्यार करते हैं और मृत्यु से बहुत डरते हैं। फाँसीघर की कोठरियों में रहने वाले कैदियों और असाध्य रोगों के निराश रोगियों से मिलते रहने के अनेक अवसर प्राप्त होते हैं। उनके अंतस्थल की दशा को,वेदना को समझ सकने के कारण हम यह जानते हैं कि लोग मृत्यु से कितना डरते हैं। कभी खतरे की संभावना आने अथवा सिंह, व्याघ्र, सर्प,चोर, डाकू, भूत, अंधकार आदि का भय सामने आने पर प्राण संकट अनुभव करके लोग थर-थर काँपने लगते हैं, होश-हवाश उड़ जाते हैं। मृत्यु चाहे प्रत्यक्ष रूप से सामने न हो, पर उसकी कल्पना मात्र से इतना भय मालूम होता है, जो मृत्यु के वास्तविक कष्ट से किसी प्रकार कम नहीं होता।

विनाशात्मक परिस्थितियाँ हर एक के जीवन में रहती हैं क्योंकि वे आवश्यक, स्वाभाविक, सृष्टि क्रम के अनुकूल एवं अनिवार्य हैं। परंतु लोग उनसे बुरी तरह डरते हैं। विपत्ति आने पर तो डरते ही हैं पर अनेक बार विपत्ति की आशंका, संभावना, कल्पना मात्र से भयभीत होते रहते हैं। इस प्रकार जीवन का अधिकांश भाग घबराहट और दुःख में व्यतीत होता है। यहाँ यह आश्चर्य होता है कि विनाश जब जीवन का एक स्वाभाविक एवं अनिवार्य अंग है तो लोग उससे इस प्रकार

डरते क्यों हैं? धनी, निर्धन, संपन्न और विपन्न सभी का जीवन असंतोष,अतृप्ति,खिन्नता, चिंता, निराशा आदि से भरा रहता है। पूर्ण सुखी मनुष्य ढूँढ़ निकालना आज असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है।

पर मृत्यु में डरने की कोई बात नहीं। जैसे नया वस्त्र पहनने में, नई जगह जाने में स्वभावत: एक प्रसन्नता होती है वैसी ही प्रसन्नता मृत्यु के संबंध में भी होनी चाहिए। आत्मा एक यात्री के समान है। उसे विविध स्थानों, व्यक्तियों, परिस्थितियों के साथ संबंध स्थापित करते हुए वैसी ही प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि सैर-सपाटा करने के लिए निकले हुए सैलानी लोगों को होती है।

मरने से डरने का कारण हमारा अज्ञान है। परमात्मा के इस सुंदर उपवन में एक से एक मनोहर वस्तुएँ हैं। यह यात्रियों के मनोरंजन की सुव्यवस्था है, पर वह यात्री जो इन दर्शनीय वस्तुओं को अपनी मान बैठता है उन पर स्वामित्व प्रकट करता है, उन्हें छोड़ना नहीं चाहता, अपनी मूर्खता के कारण दु:ख का ही अधिकारी होगा। इस संसार का हर पदार्थ, हर परमाणु तेजी के साथ बदल रहा है। इस गतिशीलता का नाम ही जीवन है। यदि वस्तुओं का उत्पादन, विकास और विनाश का क्रम टूट जाए तो यह संसार एक निर्जीव-जड़ पदार्थ बनकर रह जाएगा। यदि इसे आगे चलते रहना है, तो निश्चय ही उत्पादन, परिवर्तन और नाशक्रम अनिवार्यत: जारी रहेगा। शरीर चाहे हमारा अपना हो, अपने प्रियजन का हो, उदासीन का हो या शत्रु का हो, निश्चय ही परिवर्तन और मृत्यु को प्राप्त होगा। इस जीवन-मृत्यु के अटल नियम को न जानने के कारण ही मृत्यु जैसी अत्यंत साधारण घटना के लिए हम रोते, चिल्लाते, छाती कूटते, भयभीत होते और दु:ख मनाते हैं।

गायत्री का आरंभिक पद 'तत्' हमें यही शिक्षा देता है कि मृत्यु से डरो मत, उससे डरने की कोई बात नहीं। डरने की बात है हमारा गलत दृष्टिकोण, गलत कार्यक्रम। यदि हम अपने कर्त्तव्य पर प्रतिक्षण सजगतापूर्वक आरूढ़ रहें तो न हमारी न किसी दूसरे की मृत्यु हमारे लिए कष्टकारक होगी।

❐

सवितुः—शक्तिशाली एवं तेजस्वी बनिए

सवितुस्तु पदं वितनोतिध्रुवं मनुजोबलवान् सवितेवभवेत्।
विषया अनुभूतिपरिस्थितय, श्चसदात्मन एवगणेदिति सः॥

अर्थ—गायत्री का 'सविता' पद यह बतलाता है कि मनुष्य को सूर्य के समान बलवान होना चाहिए और 'सभी विषयों की अनुभूतियाँ तथा परिस्थितियाँ अपने अंदर हैं' ऐसा मानना चाहिए।

परिस्थितियों का जन्मदाता मनुष्य स्वयं है। हर मनुष्य अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करता है। कर्म-रेख, भाग्य, तकदीर, ईश्वर की इच्छा, ग्रहदशा, दैवी आपत्ति, आकस्मिक लाभ आदि की विलक्षणता देखकर कई आदमी भ्रमित हो जाते हैं, वे सोचते हैं कि ईश्वर की जो मरजी होगी, कर्म में जो लिखा होगा वह होगा। हमारे प्रयत्न या पुरुषार्थ से प्रारब्ध को बदला नहीं जा सकता, इसलिए कर्त्तव्य-पालन का श्रम करने की अपेक्षा चुप बैठ रहना या देवी-देवताओं की मनौती मानना ठीक है। ऐसे आदमी यह भूल जाते हैं कि भाग्य, प्रारब्ध, ईश्वरेच्छा आदि की अदृश्य शक्तियाँ खुशामद या पक्षपात पर आधारित नहीं हैं कि जिस पर प्रसन्न हो जाएँ उसे चाहे जो दे दें और जिस पर नाराज हो जाएँ उससे बदला लेने के लिए उस पर आपत्तियों का पहाड़ पटक दें।

(१) शरीर-बल, (२) बुद्धि-बल, (३) विद्या-बल, (४) धन-बल, (५) संगठन-बल, (६) चरित्र-बल, (७) आत्मबल। यह सात बल जीवन को प्रकाशित, प्रतिष्ठित, संपन्न और सुस्थिर बनाने के लिए आवश्यक हैं। सविता सूर्य के रथ में सप्त अश्व जुते हुए हैं। सविता की सात रंग की किरणें होती हैं जो इंद्र-धनुष में तथा बिल्लौरी काँच में देखी जा सकती हैं। गायत्री का 'सविता' पद हमें आदेश करता है कि

हम भी सूर्य के समान तेजस्वी बनें और अपने जीवन-रथ को चलाने के लिए उपर्युक्त सातों बलों को घोड़े के समान जुता हुआ रखें। जीवन-रथ इतना भारी है कि एक-दो घोड़े से ही उसे नहीं चला सकते। जीवन की गतिविधि ठीक रखनी है तो उसे खींचने के लिए सात अश्व, सात बल जोतने पड़ेंगे।

(१) स्वस्थ शरीर, (२) अनुभव, विवेक, दूरदर्शितापूर्ण व्यवहार बुद्धि, (३) विशाल अध्ययन, श्रवण, मनन और सत्संग द्वारा सुविकसित किया हुआ मस्तिष्क, (४) जीवनोपयोगी साधन-सामग्रियों का समुचित मात्रा में संचय, (५) सच्चे मित्रों, बांधवों एवं सहयोगियों की अधिकता, (६) ईमानदारी, मधुरता, परिश्रमशीलता, आत्म-सम्मान की रक्षा, सद्व्यवहार, उदारता जैसे गुणों से परिपूर्ण उत्तम चरित्र, (७) ईश्वर और धर्म में सुदृढ़ आस्था, आत्म-ज्ञान, कर्मयोगी दृष्टिकोण, निर्भय मनोभूमि, सतोगुणी विचार-व्यवहार, परमार्थ परायणता। यह सात प्रकार के बल प्रत्येक मनुष्य के लिए अतीव आवश्यक हैं। इन सब का साथ-साथ संतुलित विकास होना चाहिए।

गायत्री का 'सवितुः' पद हमें उपदेश करता है कि सूर्य के समान तेजस्वी बनो, सप्त अश्वों को, सप्त बलों को अपने जीवन-रथ में जुता रखो। सूर्य केंद्र है और अन्य समस्त ग्रह उसकी परिक्रमा करते हैं, वैसे ही तुम भी अपने को कर्त्ता-केंद्र और निर्माता मानो। परिस्थितियाँ, वस्तुएँ, घटनाएँ तो हमारी परिक्रमा मात्र करती हैं। जैसे परिक्रमा करने वाले ग्रह, सूर्य को प्रभावित नहीं करते वैसे ही कोई परिस्थिति हमें प्रभावित नहीं करती। अपने भाग्य के, अपनी परिस्थितियों के निर्माता हम स्वयं हैं। अपनी क्षमता के आधार पर अपनी हर एक इच्छा और आवश्यकता को पूरा करने में हम पूर्ण समर्थ हैं। गायत्री माता हम बालकों को गोदी में लेकर उँगली के संकेत से सविता को दिखाती हैं और समझाती हैं कि मेरे बालकों, सविता बनो, सविता का अनुकरण करो। ❐

वरेण्यं—अच्छाई को ही ग्रहण कीजिए

वरेण्यञ्चैतद्वै प्रकटयति श्रेष्ठत्वमनिशम्,
सदा पश्येच्छ्रेष्ठं मननमपि श्रेष्ठस्य विदधेत्।
तथा लोके श्रेष्ठं सरलमनसा कर्म च भजेत्,
तदित्थं श्रेष्ठत्वं व्रजति मनुजः शोभितगुणैः॥

अर्थ—'वरेण्यं' शब्द प्रकट करता है कि प्रत्येक मनुष्य को नित्य श्रेष्ठता की ओर बढ़ना चाहिए, श्रेष्ठ देखना, श्रेष्ठ चिंतन करना, श्रेष्ठ विचारना और श्रेष्ठ कार्य करना, इस प्रकार मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त होता है।

दुनिया को दुरंगी कहा जाता है। इसमें भले और बुरे दोनों ही तत्त्व हैं। पाप-पुण्य का, सुख-दुःख का, उन्नति-अवनति का, प्रकाश-अंधकार का युग्म सर्वत्र उपस्थित रहता है। इन युग्मों में से केवल वही पक्ष ग्रहण करना चाहिए जो हमारे लिए हितकर है। एक ओर नीचता, विलासिता, शैतानी, दुराचार, स्वार्थपरता का निकृष्ट मार्ग है दूसरी ओर आत्म-गौरव, सदाचार, महानता, परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है। गायत्री मंत्र का 'वरेण्यं' शब्द बताता है कि इन दो मार्गों में से श्रेष्ठता का मार्ग ही कल्याणकारक है।

कितने ही व्यक्ति अशुभचिंतक होते हैं। उनकी विचारधारा बहुधा अनिष्ट की दिशा में प्रवाहित होती रहती है। दूसरे उन्हें सताते हैं, बुराई करते हैं, शत्रुता रखते हैं, हानि पहुँचाते हैं, स्वार्थ के कारण ही संबंध रखते हैं। ऐसी मान्यता बनाकर वे दूसरों की शिकायत ही किया करते हैं कि भाग्य उलटा है, ईश्वर का कोप है, ग्रह दशा खराब है। ऐसा सोचकर वे अपने भविष्य को निराशा, चिंता, भय से ओत-प्रोत देखा करते हैं। भोजन को स्वादरहित, घर वालों को अवज्ञाकारी, कर्मचारियों

को चोर, मित्रों को मूर्ख, परिचितों को दुर्गुणी समझकर ये सदा निंदा, आक्षेप, व्यंग, झुँझलाहट प्रकट करते रहते हैं। ऐसे लोग चाहे कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न रहें, उन्हें सदा दुर्भाग्य एवं असंतोष ही सामने खड़ा दिखाई देगा।

गायत्री की 'वरेण्यं' शब्द द्वारा हमारे लिए यह शिक्षा है कि हम अनिष्ट को छोड़कर श्रेष्ठ का चिंतन करें। अशुभ चिंतन को त्यागकर शुभ चिंतन को अपनाएँ, जिससे मानसिक कुढ़न और असंतोष से छुटकारा मिले और सर्वत्र हर परिस्थिति में, आनंद ही आनंद उपलब्ध हो। इसका अर्थ यह है कि अधिक अच्छी परिस्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न ही किया जाए। ऐसा प्रयत्न तो अवश्य जारी रखना चाहिए क्योंकि आत्मोन्नति करना, आगे बढ़ना, शक्ति संचय करना, यह तो मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म है। जो उसे नहीं करता वह धर्म घात का अपराधी बनता है। उन्नति के लिए हँसी-खुशी, संतोष, उत्साह एवं कठोर परिश्रम के साथ प्रयत्न करना एक बात है और अपनी स्थिति से असंतुष्ट, दुखी, निराश रहकर सौभाग्य के लिए तरसते रहना दूसरी बात। निश्चित रूप से इनमें से पहली बात ही श्रेयष्कर है।

हमारी आकांक्षाएँ, विचारधाराएँ, अभिलाषाएँ, चेष्टाएँ, क्रियाएँ, अनभूतियाँ श्रेष्ठ होनी चाहिए। हम जो कुछ सोचें, जो कुछ करें, वह आत्मा के गौरव के अनुरूप हो। दुरंगी दुनिया में केवल 'वरेण्यं' ही वरण करने योग्य है, श्रेष्ठ ही ग्रहण करने योग्य है। स्मरण रखो, गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द की शिक्षा है—'अशुभ का त्याग और शुभ का ग्रहण', इस शिक्षा को हृदयंगम किए बिना कोई मनुष्य सुख-शांति का जीवन व्यतीत नहीं कर सकता।

श्रेष्ठता दैवी संपत्ति है। जिसमें सद्गुण हैं, सद्विचार हैं, सद्भाव हैं, वस्तुतः वही सच्चा संपत्तिवान है। जिसके आचरण सत्यता, लोक-

हित, समाज-सेवा और धर्मानुकूल हैं वस्तुतः वही बड़ा आदमी है। आज संसार में मनुष्य का मूल्य उसकी धन-दौलत से नापा जाता है। जिसके पास जितने पैसे अधिक हैं वह उतना ही बड़ा माना जाता है, परंतु यह कसौटी बिलकुल गलत है। गायत्री हमें सही दृष्टिकोण प्रदान करती है और बताती है कि किसी मनुष्य की आंतरिक महानता ही उसकी श्रेष्ठता का कारण होती है। हम महान बनें, श्रेष्ठ बनें, संपत्तिवान बनें पर उसकी आधारशिला भौतिक वस्तुओं पर नहीं, आत्मिक स्थिति पर निर्भर होनी चाहिए। अपनी अंतःभूमि को उच्च बनाकर मनुष्यता के महान गौरव को प्राप्त करना हमारा लक्ष्य हो, यही गायत्री के 'वरेण्यं' शब्द की शिक्षा है।

❐

भर्गो—निष्पाप बनने की प्रेरणा

भर्गो व्याहरते पदं हि नितरां लोकः सुलोको भवेत्,
पापे पाप-विनाशने त्वविरतं, दत्तावधानो वसेत्।
दृष्ट्वा दुष्कृति दुर्विपाकनिचयं, तेभ्योजुगुप्सेद्धि च,
तन्नाशाय विधीयतां च सततं, संघर्षमेभिः सह॥

अर्थ—'भर्गो:' पद यह बताता है कि मनुष्यों को निष्पाप बनना चाहिए। पापों से सावधान रहना चाहिए। पापों के दुष्परिणामों को देखकर उनसे घृणा करे और निरंतर उनको नष्ट करने के लिए संघर्ष करता रहे।

गायत्री का चौथा पद 'भर्गो:' मनुष्य जाति के लिए एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है। वह शिक्षा है निष्पाप होना। पाप का अर्थ है बुरा। बुराई माने वे कर्म जो करने योग्य नहीं हैं। इस दृष्टि से वे सभी शारीरिक-मानसिक क्रियाएँ पाप की श्रेणी में आ जाती हैं जिससे मनुष्य के व्यक्तिगत या सामूहिक जीवन में दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं।

पाप का फल दुःख होता है, इस बात को साधारणतः सभी लोग जानते हैं, फिर भी बहुत कम लोग ऐसे हैं जो पापों से बचने का प्रयत्न करते हैं। दुःखों से लोग डरते हैं, पर दुःखों के कारण पाप को नहीं छोड़ते। यह ऐसा ही है जैसे कोई अग्नि तो हाथ पर रखे पर झुलसने से बचना चाहे। देखा जाता है कि अधिकांश मनुष्य ऐसी ही बालक्रीड़ा में व्यस्त रहते हैं।

महर्षि व्यास ने लोगों की इस मूर्खता पर आश्चर्य प्रकट किया कि वे दुःख को न चाहते हुए भी पाप करते हैं और पाप के अतिरिक्त भी दुःख का कोई अन्य कारण हो सकता है, पर यह निश्चित है कि पाप की प्रतिक्रिया दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। बुरे कर्म का फल बुरा ही होगा, भले ही वह आज हो या कल। इतना होते हुए भी लोग पाप करने से बाज नहीं आते, इसका कारण वह भूल है

जिसे शास्त्रीय भाषा में माया, भ्रांति, अविद्या, असूया आदि नामों से पुकारा जाता है।

'भर्ग:' शब्द हमें सचेत करता है कि यदि आपत्तियों से बचना है तो पाप रूपी सर्प से सावधान रहना चाहिए। कई लोग सोचते हैं कि धर्म का, पुण्य का आचरण बड़ा कठिन है। यह मान्यता ठीक नहीं। सदा ही सत्य, सरल और असत्य कठिन होता है। झूठ बोलने में, बेईमानी में, ठगने में, व्याभिचार में चालाकी, चतुराई, होशियारी, पेशबंदी, तैयारी आदि की बड़ी आवश्यकता पड़ती है। थोड़ी सी भी चूक हो जाने पर भेद खुल सकता है और निंदा तथा दंड का भागी होना पड़ता है। इसके विपरीत सच बोलने में, पूरा तोलने में, ईमानदारी बरतने में, सदाचारी रहने में किसी खटखट की जरूरत नहीं, मूर्ख से मूर्ख आदमी भी इन बातों में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं करता। उचित और आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं और अनुचित तथा अनावश्यक चीजें दुर्लभ हैं। हवा, पानी, अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक चीजें सर्वत्र सुलभ हैं, विष आदि अनावश्यक चीजें दुष्प्राप्य हैं। गाय, भैंस, बकरी, घोड़े आदि उपयोगी पशु आसानी से मिल जाएँगे। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक पशु कहीं-कहीं कठिनाई से देख पड़ते हैं। इसी प्रकार लाभदायक पुण्य कर्म सर्वथा सुलभ हैं, इसके विपरीत हानिकारक दु:खदायी पाप कर्मों की व्यवस्था बड़ी चालाकी और कठिनाई से बन पड़ती है। जो धर्म-पालन की, पुण्य-संचय की इच्छा रखते हैं उनके लिए यह सब बहुत ही सुलभ है।

गायत्री का 'भर्ग:' पद हमें निष्पाप बनने की शिक्षा और स्फूर्ति देता है। इस प्रेरणा से बल लेकर यदि पवित्रता की दिशा में हमारा प्रयत्न जारी रहे तो संसार के समस्त कष्टों एवं भवबंधनों से छूटकर हम जीवन मुक्ति का स्वर्गीय आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

❐

देवस्य—देवत्व का अवलंबन कीजिए

देवस्येति तु व्याकरो त्यमरतां, मर्त्योऽपि संप्राप्यते,
देवानामिवि शुद्धदृष्टिकरणात् सेवोपचाराद्भुवि।
निःस्वार्थं परमार्थकर्मकरणात् दीनाय दानात्तथा,
बाह्याभ्यन्तरमस्यदेवभुवनं संसृज्यते चैवहि॥

अर्थ—'देवस्य' पद यह बतलाता है कि मरणधर्मा मनुष्य भी अमरता अर्थात देवत्व को प्राप्त हो सकता है। देवताओं के समान शुद्ध दृष्टि रखने से, प्राणियों की सेवा करने से, परमार्थ सुकर्म करने से मनुष्य के भीतर और बाहर देवलोक की सृष्टि होती है।

'देव' उसे कहते हैं जो दे। 'लेव' उसे कहते हैं जो ले। सुर और असुर में, देव और दानव में अंतर केवल इतना ही है कि देव की मनोवृत्ति अपने लिए कम लेने की और दूसरों को अधिक देने की रहती है, इसके विपरीत दानव अपने लिए अधिक चाहते हैं और दूसरों को देने में बड़ी अनुदारता बरतते हैं। मनुष्य इन दोनों में से चाहे जिस गति को चाहे, स्वेच्छापूर्वक प्राप्त कर सकता है। वह चाहे तो देव बन सकता है और चाहे तो असुर पदवी प्राप्त कर सकता है।

देवताओं को अमर कहते हैं। अमर वह जो कभी मरे नहीं। अपने को अविनाशी आत्मा मान लेने से, आत्म-साक्षत्कार कर लेने से, वह शरीरों की मृत्यु को मृत्यु अनुभव ही नहीं करता। उसे सदा यही अनुभव होता है कि मैं अमर हूँ। मेरा वास्तविक स्वरूप अविनाशी, अविच्छिन्न, अक्लेद्य, अशोष्य है। इसके अतिरिक्त देव मनोवृत्ति के मनुष्य के कर्म भी दैवी आदर्श, धर्म युक्त होते हैं। ऐसे विचार और कर्मों वाले महापुरुषों का यश, शरीर '**यावत चन्द्र दिवाकरौ**' बना रहता है। शिवि, दधीचि, हरिश्चंद्र, मोरध्वज, प्रह्लाद, बुद्ध, गांधी आदि का यश, शरीर अमर है, उनकी मृत्यु कभी नहीं हो सकती। इसीलिए उनकी

अमरता में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे अमर पुरुष सदा देव श्रेणी में ही गिने जाएँगे।

संसार की वस्तुओं को, समस्याओं को, परिस्थितियों को, लाभ-हानि को, परखने की, समझने की दो दृष्टियाँ, दो कसौटी होती हैं। एक को शुद्ध, दूसरी को अशुद्ध कहते हैं। शुद्ध दृष्टि से देखने वाला मनुष्य हर काम को आत्म-लाभ या आत्म-हानि की तराजू पर तोलता है। वह देखता है कि इस कार्य को करने में अत्यंत कल्याण है या नहीं, जिस कार्य में स्थायी सुख होता है उसे ही वह ग्रहण करता है, भले ही उसे स्वल्प तात्कालिक लाभ एवं कम भौतिक सुख में संतोष करना पड़े। इसके विपरीत अशुद्ध दृष्टिकोण वाला मनुष्य अधिक धन, अधिक सुख, अधिक भोग-उपार्जन में लगा रहता है। इन वस्तुओं को अधिक संख्या, अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए वह इतना विमुग्ध होता है कि धर्म-अधर्म तक की परवाह करना छोड़ देता है। आज के लिए, वह कल के दु:ख को नहीं देखता। अशुद्ध दृष्टिकोण रखने वाले मनुष्य के विचार और कर्म अति स्वार्थपूर्ण, अनर्थपूर्ण होते हैं, इसलिए उसे निंदनीय, दंडनीय, असुर माना जाता है। देव-वृत्ति का मनुष्य शुद्ध सात्त्विकता को अपनाता है, फलस्वरूप उसके समस्त विचार और कार्य पुण्य की, परमार्थ की श्रेणी में आने योग्य होते हैं। अतएव उस देवता को सर्वत्र पूजा, प्रशंसा, प्रतिष्ठा, श्रद्धा प्राप्त होती है।

जबकि साधारण लोग सदा अपने अभाव, दु:ख, दोष देखते हैं, दूसरों के व्यवहार में बुराई, कमी, भूल ढूँढ़ते हैं और उनसे हर घड़ी दुखी रहते हैं तब देव स्वभाव के मनुष्य ईश्वर द्वारा अपने को दी हुई अगणित सुविधाओं को चिंतन करके हर घड़ी प्रसन्न रहते हैं, अपने को सौभाग्यवान समझते हैं कि हम असंख्यों से अच्छे हैं। दूसरों के उपकारों, सहायताओं, भलाइयों और अच्छाइयों को स्मरण करते हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु में सौंदर्य एवं उपयोगिता ढूँढ़ते हैं। इस प्रकार

उन्हें अपने चारों ओर आनंद, संतोष, प्रसन्नता एवं सौभाग्य बिखरा हुआ दृष्टिगोचर होता है। इसके लिए वे परमात्मा को अनेक धन्यवाद देते हैं कि प्रभु तूने हमें इतने अगणित सुख सौभाग्य दिए हैं इसके लिए हम तेरे कृतज्ञ हैं। इन सौभाग्य-राशियों की तुलना में उन्हें अपने अभाव और कष्ट ऐसे मालूम पड़ते हैं मानों केवल उन्हें शोभा के लिए रखा गया हो। सुंदर बालक के माथे पर माताएँ काला टीका लगा देती हैं कि उसे किसी की नजर न लग जाए। थोड़े अभाव और कष्टों को वह ईश्वर द्वारा लगाया हुआ टीका समझते हैं और उसकी भी अनेक प्रकार उपयोगिता एवं आवश्यकता अनुभव करते हुए सुखी, संपन्न एवं संतुष्ट रहते हैं।

गायत्री हमें देव बनाना चाहती है। उसका 'देवस्य' शब्द हमें देवत्व की ओर चलने की प्रेरणा देता है।

❐

धीमहि—दैवी संपत्तियों का संचय कीजिए

धीमहि सर्वविधं हृदये शुचि शक्तिचयं वयमित्युपदिष्टाः।
नो मनुजो लभते सुखशान्तिमनेन विनेति वदति हि वेदाः॥

अर्थ—हम सब लोग हृदय में सब प्रकार की पवित्र शक्तियों को धारण करें। वेद कहते हैं कि इनके बिना मनुष्य सुख-शांति को प्राप्त नहीं होता।

यह सुनिश्चित तथ्य है कि शक्ति के बदले में सुख मिलता है। जिस प्रकार पैसे के बदले में खरीदे जाने वाले सभी पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार शक्ति के बदले में विविध प्रकार के आनंद प्राप्त किए जाते हैं। जिसका शरीर शक्तिशाली है, इंद्रियाँ सक्षम हैं वह ही विविध प्रकार के इंद्रिय-भोगों को भोग सकता है, जिसका शरीर रोगी, निर्बल एवं अशक्तिशाली है उसको उत्तम से उत्तम इंद्रिय-भोग भी बुरे लगते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, धन, संगठन, शिल्प, अनुभव, चतुरता, पुरुषार्थ आदि शक्तियों का भंडार जिसके पास जितनी अधिक मात्रा में है वह उतना ही अधिक संपित्त, वैभव, समृद्धि एवं ऐश्वर्य, सुख-सामग्री प्राप्त कर सकता है। जिसके पास इन शक्तियों की जितनी कमी है वह उतनी ही मात्रा में अभावग्रस्त एवं कठिनाइयों का जीवन व्यतीत करेगा।

शरीर को सुख देने वाले ऐश्वर्य शरीर से संबंध रखते हैं। जिसने अपने में जितनी अधिक भौतिक योग्यताएँ एकत्रित कर ली हैं वह उतना ही अधिक सांसारिक सुख भोग सकेगा। इतना होने पर भी उससे आत्मिक सुख उपलब्ध नहीं किया जा सकता। आत्मिक सुख के लिए आत्मिक शक्तियों की आवश्यकता है। सद्गुण, सात्त्विक दृष्टिकोण,

सत्स्वभाव, संयम, उदार एवं नम्र व्यवहार की दैवी संपत्तियाँ जिसके पास हैं उनके मानसिक क्षेत्र में सर्वत्र सुख-शांति ऐसी उत्कृष्ट होगी कि सांसारिक कठिनाइयाँ भी उन्हें विचलित न कर सकेंगी।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का संदेश यह है कि हम अपने अंदर सद्गुणों की धारणा करें। अपने स्वभाव को नम्र, मधुर, शिष्ट, खरा, निर्भीक, दयालु, पुरुषार्थी, निरालस्य, श्रमशील बनाएँ तथा व्यवहार में उदारता, सचाई, ईमानदारी, निष्कपटता, भलमनसाहत, न्याय-परायणता, समानता तथा उद्योगशीलता का परिचय दें। उन सभी गुणों, विशेषताओं और योग्यताओं को अपनाएँ, जिनके द्वारा स्वास्थ्य,कीर्ति, प्रतिष्ठा, उच्च पद, धन, वैभव आदि की प्राप्ति होती है। यह सांसारिक संपत्तियाँ भी आवश्यक हैं क्योंकि इनसे जीवन की गतिविधि शांति और सुविधापूर्वक चलती है। दरिद्र व्यक्ति न संसार में सुखी रह सकता है और न मानसिक शांति प्राप्त कर सकता है। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए केवल उदर-पोषिणी योग्यताओं से ही काम नहीं चल सकता। ऐसी योग्यता तो पशु-पक्षी भी प्राप्त कर लेते हैं। इनके अतिरिक्त वे सद्गुण भी संचय करने चाहिए जिनके कारण मनुष्य पूजा जाता है, प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, यशस्वी होता है, महापुरुष बनता है,सबका प्रेम-पात्र नेता बनता है एवं सहज ही अपने अनेकों सहायक, मित्र, शुभचिंतक, श्रद्धालु, अनुयायी एवं प्रशंसक बना लेता है। जिसके सद्गुणों की सुगंधि चारों ओर फैल रही होती है, उसे विमुग्ध होकर अनेक पारखी भ्रमर घेरे रहते हैं।

गायत्री के 'धीमहि' शब्द का संदेश है कि वस्तुएँ मत जोड़ो, गुणों को धारण करो। कचरे की गठरी मत बाँधो, सोने का टुकड़ा रख लो। जीवन में सर्वोपरि आनंद देने की कुंजी सात्त्विक वृत्तियाँ हैं। उनका महत्त्व समझो, उन्हें ढूँढ़ो, उनका संचय करो और जिनको अधिकाधिक मात्रा में दैवी संपत्तियाँ प्राप्त हैं, वास्तव में वही सच्चा धनी है।

❐

धियो—विवेक का अनुशीलन

धियो मत्योन्मथ्यागमनिगममन्त्रान् सुमतिमान्,
विजानीयात्तत्त्वं विमलनवनीतं परमिव।
यतोऽस्मिन् लोके वैसंशयगत-विचार-स्थलशते,
मतिः शुद्धैवाञ्छा प्रकटयति सत्यं सुमनसे॥

अर्थ—वेद शास्त्रों को बुद्धि से मथकर मक्खन के समान उत्कृष्ट तत्त्व को जानें, क्योंकि शुद्ध बुद्धि से ही सत्य को जाना जाता है।

कई बार ऐसे अवसर सामने आते हैं कि परस्पर विरोधी विचारधाराओं के सामने आ जाने पर बुद्धि भ्रमित हो जाती है और यह निर्णय नहीं हो पाता कि इनमें से किसे स्वीकार तथा किसे अस्वीकार करें।

गायत्री का 'धियो' शब्द विवेक की कसौटी हमारे हाथ में देता है और आदेश करता है कि किसी भी पुस्तक या व्यक्ति की अपेक्षा विवेक का महत्त्व अधिक है। इसलिए जो बात बुद्धिसंगत हो, विवेकसम्मत हो, समझ में आने योग्य हो, उचित हो, केवल उसी को ग्रहण करना चाहिए। देश, काल और परिस्थिति का ध्यान रखकर समय-समय पर आचार्यों ने उपदेश किए हैं। इसलिए जो बात एक समय के लिए बहुत उपयोगी एवं आवश्यक थी वह दूसरे समय में अनुचित, अनावश्यक हो सकती है। जाड़े के दिनों में पहने जाने वाले गरम ऊनी कपड़े गरमी में हानिकारक हैं, इसी प्रकार गरमी की हलकी पोशाक को ही जाड़े के दिनों में पहने रहना निमोनिया को निमंत्रण देना है। अपने समय में जो पोशाक आवश्यक होती है वही काल और परिस्थिति बदल जाने पर त्याज्य हो जाती है।

अनेकों परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाजें ऐसी प्रचलित हैं जो किसी समय भले ही उपयुक्त रही हों पर आज तो वे सर्वथा अनुपयोगी एवं हानिकारक ही हैं। ऐसी प्रथाओं एवं मान्यताओं के बारे में ऐसा न सोचना चाहिए कि हमारे पूर्वज इन्हें अपनाते रहे हैं तो अवश्य इनका

भी कोई महत्त्व होगा इसलिए हम भी इन्हें अपनाए रहें। हमें हर बात को वर्तमान काल की आवश्यकताओं और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय करना चाहिए।

भले और बुरे की, हानि और लाभ की, मित्र और शत्रु की, सच्चे और झूठे की पहचान केवल विवेक ही करा सकता है। आकर्षणों, प्रलोभनों, तृष्णाओं, विकारों, भ्रांतियों, खतरों से सावधान करके हमें पतन के गहरे गड्ढे में गिरने से बचाने की शक्ति केवल विवेक में ही है। विवेक हमारा सच्चा मित्र है। वह भूलें सुधारता है, मार्ग सुधारता है, उलझनें सुलझाता है, खतरे से बचाता है और सफलता की ओर अग्रसर करता है। ऐसे मित्र की आवश्यकता समझना, उससे प्रेम करना और उसे अधिक से अधिक आदर के साथ समीप रखना यह हमारे लिए सब प्रकार से कल्याणकारक हो सकता है।

गायत्री के 'धियो' शब्द का आदेश है कि हम विवेकवान बनें, विवेक को अपनाएँ, विवेक की कसौटी पर कसकर अपने विचार और कर्मों का निर्धारण करें। इस शिक्षा को स्वीकार करना मानो अपनी जीवन दशाओं को शीतल, शांतिदायक मलय-मारुत के लिए उन्मुक्त कर देना है।

❐

यो नः—आत्मसंयम और परमार्थ का मार्ग

योनो वास्ति तु शक्तिसाधनचयो न्यूनाधिकश्चाथवा,
भागं न्यूनतमं हि तस्य विदधेमात्मप्रसादाय च।
यत्पश्चादवशिष्ट भागमखिलं त्यक्त्वा फलाशां हृदि,
तद्धीनेष्वभिलाषवस्तु वितरेद् ये शक्तिहीनाः स्वयम्॥

अर्थ—हमारी जो भी शक्तियाँ एवं साधन हैं, वे न्यून हों अथवा अधिक हों, उनके न्यून से न्यून भाग को अपनी आवश्यकता के लिए प्रयोग में लावें और शेष को निस्स्वार्थ भाव से उन्हें अशक्त व्यक्तियों में बाँट दें।

सभी मनुष्य परमात्मा के पुत्र हैं। सभी उसे समान रूप से प्यारे हैं। पर वह जिन्हें अधिक ईमानदार और विश्वसनीय समझता है उन्हें अपनी राजशक्ति का एक भाग इसलिए सौंप देता है कि वे उसके ईश्वरीय उद्देश्यों की पूर्ति में हाथ बटाएँ। धन, स्वास्थ्य, बुद्धि, चतुरता, शिल्प, योग्यता, मनोबल, नेतृत्व, भाषण, लेखन आदि की शक्तियाँ जिन्हें अधिक मात्रा में दी गई हैं वे उन्हें दैवी प्रयोजन के लिए दी गई हैं। जो अधिकार साधारण प्रजा को नहीं हैं वे अधिकार कलक्टर को देकर राजा कोई पक्षपात नहीं करता वरन अधिक योग्य से, अधिक काम लेने की नीति बरतता है। परमेश्वर भी कुछ थोड़े से आदमियों को अधिक संपन्न बनाकर अपने अन्य लोगों के साथ अन्याय नहीं करता। उसे अपने सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं। उसने सभी को समान रूप से विकसित होने के अवसर दिए हैं। वह पक्षपात और अन्याय करे तो फिर उसे समदर्शी, न्यायशील और दयालु कैसे कहा जा सकेगा?

जबकि अधिकांश लोगों को पेट भरने और तन ढकने की व्यवस्था में ही जीवन का सारा समय लगाना पड़ता है और कई दृष्टियों से पिछड़ा हुआ रहना पड़ता है तब किसी समृद्ध आदमी के लिए गर्व

करने का, सुखी होने का, संतोष करने का, ईश्वर को धन्यवाद देने का यह पर्याप्त कारण है कि उसकी जीवन-आवश्यकताएँ आसानी से पूरी हो जाती हैं और उसे ऐसी योग्यताएँ प्राप्त हैं जो असंख्य मनुष्यों में नहीं हैं। सुसंपन्न व्यक्ति को इतने से ही संतोष और आनंद अनुभव करना चाहिए और भविष्य में और भी उत्तम स्थिति प्राप्त करने के लिए दूरदर्शितापूर्वक अपनी शक्तियों को लोक-हित में लगाना चाहिए। आज वह अवसर है कि वह रोटी की समस्या को आसानी से हल करके परमार्थ भी कर सकता है। ऐसी स्थिति पूर्वकृत पुण्य फल से ही प्राप्त हुई है। यदि पिछले पुण्य फल भुगत जाते और आगे के लिए उपार्जन न किया जाए तो निश्चित है कि थोड़े दिनों में वह संपन्नता समाप्त हो जाएगी, उसे असंख्यों निर्धन व्यक्तियों की भाँति ऐसा अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए विवश होना पड़ेगा जिसमें परमार्थ के लिए अवसर पाना बड़ा कठिन काम होगा।

गायत्री हर व्यक्ति को आगाह करती है कि ऐसी बुरी परिस्थिति में कोई आत्म-कल्याण का पथिक अपने को न फँसा ले। 'यो नः' शब्द कहता है कि हम 'जोड़ने और भोगने' की मृगतृष्णा में न भटकें। अपनी आवश्यकताएँ कम से कम रखें। उन्हें पूरा करने के पश्चात बची हुई शक्ति का अधिक से अधिक भाग अपने से निर्बल, पिछड़े हुए, अविकसित, निर्धन, अल्पबुद्धि, अशिक्षित लोगों को अपेक्षाकृत अधिक ऊँचा उठाने में खरच करें। यह ईश्वरीय कार्य में हाथ बटाना और अपनी बुद्धिमत्ता, दूरदर्शिता एवं कर्त्तव्य-परायणता का प्रमाण देना है।

इस दृष्टि से हमें अवसरवादी होना चाहिए। अवसर से लाभ उठाने में चूक न करना चाहिए। प्राप्त शक्तियों को अपने लिए मितव्ययता के साथ खरच करके उन्हें दूसरों के लिए बचाना चाहिए। यह 'आत्म-संयम और परमार्थ' का दैवी मार्ग हमें 'यो नः' शब्द द्वारा बताया गया है। इस पर चलने वाला गायत्री उपासक जीवन-लक्ष्य को प्राप्त करके रहता है।

❐

प्रचोदयात्—प्रोत्साहन की आवश्यकता

प्रचोदयात् स्वं त्वितरांश्च मानवान्,
नरः प्रयाणाय च सत्यवर्त्मनि।
कृतं हि कमाखिलमित्थमंगिना,
विपश्चितैर्धर्मं इति प्रचक्षते॥

अर्थ—मनुष्य अपने आपको तथा दूसरों को सत्य मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे। इस प्रकार किए हुए सब प्रयत्न धर्म कहे जाते हैं।

मानव प्राणी को ईश्वर प्रदत्त अनेक दिव्य शक्तियाँ ऐसी प्राप्त हैं, जिनका वह समुचित उपाय करे तो अनंत ऐश्वर्य का स्वामी बनने में उसे कठिनाई न हो। अनेक विशेषताओं से विभूषित शरीर और मस्तिष्क, शक्ति एवं सामर्थ्य इतनी अधिक है कि उसका समुचित उपयोग हो जाए तो तुच्छ मनुष्य को महान बनाने में कुछ भी बाधा न हो। सीधे रास्ते पर निरंतर चलते रहने वाला कछुआ, अव्यवस्थित चाल चलने वाले खरगोश से आगे निकल जाता है। देखा जाता है कि कितने ही मनुष्य बड़ी विलक्षण योग्यताओं के होते हुए भी कुछ महत्त्वपूर्ण काम नहीं कर पाते और कितने ही व्यक्ति साधारण शरीर, सामान्य मस्तिष्क और स्वल्प साधन होते हुए भी अच्छी उन्नति कर जाते हैं।

ऐसा क्यों होता है। इस पर विचार करने से पता चलता है कि जीवन में एक ऐसा दैवी तत्त्व होता है जिसके न्यूनाधिक होने पर उन्नति-अवनति बहुत कुछ निर्भर रहती है। वह तत्त्व जिसमें जितना अधिक होगा वह उतना ही शीघ्रतापूर्वक, उतनी ही अधिक मात्रा में उन्नति कर सकेगा। इस तत्त्व का नाम है 'प्रेरणा'। दूसरे शब्दों में इसी को लगन, धुन, उत्साह, स्फूर्ति भी कहते हैं। जिसको किसी काम की लगन हुई है, तीव्र इच्छा एवं आकांक्षा है, जिसके प्राप्त करने की बड़ी लालसा है, जो लक्ष्य बन गया है, जिसे प्राप्त किए बिना और कुछ सुहाता नहीं, ऐसी प्रबल, प्रचंड, अदम्य, अभिलाषा के पीछे एक ऐसी शक्ति होती है कि वह मनुष्य को चुप बैठने नहीं देती, उसे अभीष्ट

दिशा में सोचने, प्रयत्न करने एवं लगे रहने के लिए प्रेरित करती रहती है। यह प्रेरणा शक्ति ही वह बल है जिसका जितना अंश जिस मनुष्य में होगा वह उतनी ही तेजी से आगे बढ़ेगा।

गायत्री-मंत्र में इस महाशक्तिशाली जीवन-तत्त्व 'प्रेरणा' का रहस्य प्रकट किया गया है। इस मंत्र में भगवान से धन, वैभव, सुख, स्त्री, पुत्र, मकान, मोटर, विद्या, रूप आदि कुछ नहीं माँगा गया है। इन सब बातों को, यहाँ तक कि अमृत, कल्पवृक्ष और पारस को भी छोड़कर केवल यह प्रार्थना की है कि हे भगवान आप हमें प्रेरणा दीजिए। हमारी बुद्धि को प्रेरित कीजिए। जब बुद्धि में प्रेरणा उत्पन्न हो गई तो सारे धन, वैभव पाँवों तले स्वयं ही लौटेंगे। यदि प्रेरणा नहीं है तो कुबेर का खजाना पाकर भी आलसी लोग उसे गँवा देंगे।

गायत्री का 'प्रचोदयात्' शब्द कहता है कि प्राणधारियों में प्राण की, प्रेरणा की, जीवन की अधिक मात्रा होनी चाहिए। जो लोग आलसी, काहिली, निराशा, हतोत्साह, परावलंबी, कायर, भाग्यवादी बने हुए हैं,जिनने आत्म-गौरव और आत्म-विश्वास खो दिया है और इसी कारण उनका सौभाग्य सूर्य अस्त हो रहा है ऐसे दीन-दुखी बने हुए लोगों के लिए सबसे बड़ी सेवा और सहायता यह हो सकती है कि उनके सम्मुख ऐसे विचार, तर्क, उपदेश, उदाहरण उपस्थित किए जाएँ जिनसे प्रभावित होकर वे प्रोत्साहित हों, अपनी शक्तियों को समझें और उस मार्ग पर चल पड़ें जो उनको आत्म-निर्माण की मंजिलें पार करावें।

ऐसा ज्ञान दान देना जिससे मनुष्य के विचार ऊँचे उठते हों, आत्मा को सन्मार्ग की ओर प्रोत्साहन मिलता हो, सबसे बड़ा दान है। यह कार्य हम उत्तम पुस्तकों द्वारा, वाणी द्वारा, लेखनी द्वारा, चित्रों द्वारा या जिस प्रकार संभव हो करें। हम स्वयं आगे बढ़ें तथा दूसरों को बढ़ावें। अपने को प्राणवान बनावें, दूसरों में प्राण संचार करें। चूँकि सत् प्रेरणा ही भौतिक और आत्मिक सुखों की जननी है, इसलिए इस महाशक्ति का संसार में प्रत्येक गायत्री भक्त द्वारा अधिकाधिक संवर्द्धन होना चाहिए। यही 'प्रचोदयात्' शब्द का संदेश है।

❐❐

मुद्रक—युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)